।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ द्वादशोऽध्यायः

एकादश अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण ने बार-बार बल दिया था कि, अर्जुन! मेरा यह स्वरूप जिसे तूने देखा, तेरे सिवाय न पहले कभी देखा गया है और न भविष्य में कोई देख सकेगा। मैं न तप से, न यज्ञ से और न दान से ही देखे जाने को सुलभ हूँ; किन्तु अनन्य भक्ति के द्वारा अर्थात् मेरे अतिरिक्त अन्यत्र कहीं श्रद्धा बिखरने न पाये, निरन्तर तैलधारावत् मेरे चिन्तन के द्वारा ठीक इसी प्रकार जैसा तूने देखा, मैं प्रत्यक्ष देखने के लिए, तत्त्व से साक्षात् जानने के लिये और प्रवेश करने के लिए भी सुलभ हूँ। अतः अर्जुन! निरन्तर मेरा ही चिन्तन कर, भक्त बन। अध्याय के अन्त में उन्होंने कहा था, अर्जुन! तू मेरे ही द्वारा निर्धारित किये गये कर्म को कर। **'मत्परमः'** अपितु मेरे परायण होकर कर। अनन्य भक्ति ही उसकी प्राप्ति का माध्यम है। इस पर अर्जुन का प्रश्न स्वाभाविक था कि जो अव्यक्त अक्षर की उपासना करते हैं और जो सगुण आपकी उपासना करते हैं, इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है?

यहाँ इस प्रश्न को अर्जुन ने तीसरी बार उठाया है। अध्याय तीन में उसने कहा था कि, भगवन्! यदि निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा सांख्ययोग आपको श्रेष्ठ मान्य है, तो आप मुझे भयंकर कर्मों में क्यों लगाते हैं? इस पर श्रीकृष्ण ने कहा था - अर्जुन! निष्काम कर्ममार्ग अच्छा लगे चाहे ज्ञानमार्ग, दोनों ही दृष्टियों से कर्म तो करना ही पड़ेगा। इतने पर भी जो इन्द्रियों को हठ से रोककर मन से विषयों का स्मरण करता है वह दम्भाचारी है, ज्ञानी नहीं, अतः अर्जुन! तू कर्म कर। कौन-सा कर्म करे? तो **'नियतं कुरु कर्म**

त्वम्'- निर्धारित किये हुए कर्म को कर। निर्धारित कर्म क्या है? तो बताया - यज्ञ की प्रक्रिया ही एकमात्र कर्म है। यज्ञ की विधि बताया, जो आराधना-चिन्तन की विधि-विशेष है, परम में प्रवेश दिलानेवाली प्रक्रिया है। जब निष्काम कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग दोनों में ही कर्म करना है, यज्ञार्थ कर्म करना है, क्रिया एक ही है तो अन्तर कैसा? भक्त कर्मों का समर्पण करके इष्ट के आश्रित होकर यज्ञार्थ कर्म में प्रवृत्त होता है, तो दूसरा सांख्ययोगी अपनी शक्ति को समझकर (अपने भरोसे) उसी कर्म में प्रवृत्त होता है। पूरा श्रम करता है।

अध्याय पाँच में अर्जुन ने पुनः प्रश्न किया - भगवन्! आप कभी सांख्य-माध्यम से कर्म करने की प्रशंसा करते हैं, तो कभी समर्पण-माध्यम से निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं - इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है? यहाँ तक अर्जुन समझ चुका था कि कर्म दोनों दृष्टियों से करना होगा फिर भी दोनों में श्रेष्ठ मार्ग वह चुनना चाहता है। श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! दोनों ही दृष्टियों से कर्म में प्रवृत्त होनेवाले मुझको ही प्राप्त होते हैं; किन्तु सांख्यमार्ग की अपेक्षा निष्काम कर्ममार्ग श्रेष्ठ है। निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान किये बिना न कोई योगी होता है और न ज्ञानी। सांख्ययोग दुष्कर है, उसमें कठिनाइयाँ अधिक हैं।

यहाँ तीसरी बार अर्जुन ने यही प्रश्न रखा कि, भगवन्! आपमें अनन्य भक्ति से लगनेवाले और अव्यक्त अक्षर की उपासना में (सांख्यमार्ग से) लगनेवाले इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है?

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।१।।

'एवं' अर्थात् इस प्रकार जो अभी-अभी आपने विधि बतायी है, ठीक इसी विधि के अनुसार अनन्य भक्ति से जो आपकी शरण लेकर, आपसे निरन्तर संयुक्त होकर आपको भली प्रकार उपासते हैं और दूसरे जो आपकी

शरण न लेकर, स्वतन्त्र रूप से अपने भरोसे उसी अक्षय और अव्यक्त स्वरूप की उपासना करते हैं जिसमें आप भी स्थित हैं, इन दोनों प्रकार के भक्तों में अधिक उत्तम योगवेत्ता कौन है? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा-

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।२।।

अर्जुन! मुझमें मन को एकाग्र करके निरन्तर मुझसे संयुक्त हुए जो भक्तजन परम से सम्बन्ध रखनेवाली श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त होकर मुझे भजते हैं, वे मुझे योगियों में भी अति उत्तम योगी मान्य हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।३।।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।४।।

जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को भली प्रकार संयत करके मन-बुद्धि के चिन्तन से अत्यन्त परे सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप, सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, अव्यक्त, आकाररहित और अविनाशी ब्रह्म की उपासना करते हैं, सम्पूर्ण भूतों के हित में लगे हुए और सब में समान भाववाले वे योगी भी मुझे ही प्राप्त होते हैं। ब्रह्म के उपर्युक्त विशेषण मुझसे भिन्न नहीं हैं; किन्तु -

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।५।।

उन अव्यक्त परमात्मा में आसक्त हुए चित्तवाले पुरुषों के साधन में क्लेश विशेष है; क्योंकि देहाभिमानियों से अव्यक्त विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है। जब तक देह का भान है, तब तक अव्यक्त की प्राप्ति दुष्कर है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण सद्गुरु थे। अव्यक्त परमात्मा उनमें व्यक्त था। वे कहते हैं कि महापुरुष की शरण न लेकर जो साधक अपनी शक्ति समझते

हुए आगे बढ़ता है कि मैं इस अवस्था में हूँ, आगे इस अवस्था में जाऊँगा, मैं अपने ही अव्यक्त शरीर को प्राप्त होऊँगा, वह मेरा ही रूप होगा, मैं वही हूँ। इस प्रकार सोचते, प्राप्ति की प्रतीक्षा न करके अपने शरीर को ही 'सोऽहं' कहने लगता है। यही इस मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। वह 'दुःखालयम् अशाश्वतम्' में ही घूम-फिरकर खड़ा हो जाता है। किन्तु जो मेरी शरण लेकर चलता है वह-

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।६।।

जो मेरे परायण होकर सम्पूर्ण कर्मों अर्थात् आराधना को मुझमें अर्पण करके अनन्य भाव से योग अर्थात् आराधना प्रक्रिया के द्वारा निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं-

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।७।।

केवल मुझमें चित्त लगानेवाले उन भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-सागर से उद्धार करनेवाला होता हूँ। इस प्रकार चित्त लगाने की प्रेरणा और विधि पर योगेश्वर प्रकाश डालते हैं-

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

इसलिये अर्जुन! तू मुझमें मन लगा, मुझमें ही बुद्धि लगा। इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। मन और बुद्धि भी न लगा सके, तब? (अर्जुन ने पीछे कहा भी था कि मन को रोकना तो मैं वायु की तरह दुष्कर समझता हूँ) इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।।९।।

यदि तू मन को मुझमें अचल स्थापित करने में समर्थ नहीं है, तो हे अर्जुन! योग के अभ्यास द्वारा मुझे प्राप्त होने की इच्छा कर। (जहाँ भी चित्त जाय वहाँ से घसीटकर उसे आराधना, चिन्तन-क्रिया में लगाने का नाम

अभ्यास है) यदि यह भी न कर पावे तो?-

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।१०।।

यदि तू अभ्यास में भी असमर्थ है, तो केवल मेरे लिये कर्म कर अर्थात् आराधना करने में तत्पर हो जा। इस प्रकार मेरी प्राप्ति के लिये कर्मों को करता हुआ तू मेरी प्राप्तिरूपी सिद्धि को ही प्राप्त होगा। अर्थात् अभ्यास भी पार न लगे, तो साधना-पथ में लगे भर रहो।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।।११।

यदि इसे भी करने में असमर्थ हो, तो सम्पूर्ण कर्म के फल का त्याग कर अर्थात् लाभ-हानि की चिन्ता छोड़कर 'मद्योग' के आश्रित होकर अर्थात् समर्पण के साथ आत्मवान् महापुरुष की शरण में जाओ। उनसे प्रेरित होकर कर्म स्वतः होने लगेगा। समर्पण के साथ कर्मफल के त्याग का महत्त्व बताते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।१२।।

केवल चित्त को रोकने के अभ्यास से ज्ञानमार्ग से कर्म में प्रवृत्त होना श्रेष्ठ है। ज्ञान-माध्यम से कर्म को कार्यरूप देने की अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ है; क्योंकि ध्यान में इष्ट रहता ही है। ध्यान से भी सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि इष्ट के प्रति समर्पण के साथ ही योग पर दृष्टि रखते हुए कर्म-फल का त्याग करने से उसके योगक्षेम की जिम्मेदारी इष्ट की हो जाती है। इसलिए इस त्याग से वह तत्काल ही परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है।

अभी तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि अव्यक्त की उपासना करनेवाले ज्ञानमार्गी से समर्पण के साथ कर्म करनेवाला निष्काम कर्मयोगी श्रेष्ठ है। दोनों एक ही कर्म करते हैं; किन्तु ज्ञानमार्गी के पथ में व्यवधान अधिक हैं। उसके लाभ-हानि की जिम्मेदारी स्वयं पर रहती है, जबकि समर्पित भक्त की जिम्मेदारी महापुरुष पर होती है इसलिए वह कर्मफल-त्याग द्वारा शीघ्र

ही शान्ति को प्राप्त होता है। अब शान्ति-प्राप्त पुरुष के लक्षण बताते हैं-

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।।१३।।

इस प्रकार शान्ति को प्राप्त हुआ जो पुरुष सब भूतों में द्वेषभाव से रहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है और जो ममता से रहित, अहंकार से रहित, सुख-दुःख की प्राप्ति में सम तथा क्षमावान् है,

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१४।।

जो निरन्तर योग की पराकाष्ठा से संयुक्त है, लाभ तथा हानि में सन्तुष्ट है, मन तथा इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किये हुए है, दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पित मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्विग्न नहीं होता एवं हर्ष, सन्ताप, भय और समस्त विक्षोभों से मुक्त है, वह भक्त मुझे प्रिय है।

साधकों के लिए यह श्लोक अत्यन्त उपयोगी है। उन्हें इस ढंग से रहना चाहिए कि उनके द्वारा किसी के मन को ठेस न लगे। इतना तो साधक कर सकता है; किन्तु दूसरे लोग इस आचरण से नहीं चलेंगे। वे तो संसारी हैं ही, वे तो आग उगलेंगे, कुछ भी कहेंगे; किन्तु पथिक को चाहिए कि अपने हृदय में उनके द्वारा (उनके आघातों से) भी उथल-पुथल न हो। चिन्तन में सुरत लगी रहे, क्रम न टूटे। उदाहरण के लिए आप स्वयं सड़क पर नियमानुकूल बाएँ से चल रहे हैं, कोई मदिरा पीकर चला आ रहा है, उससे बचना भी आपकी जिम्मेदारी है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१६।।

जो पुरुष आकांक्षाओं से रहित, सर्वथा पवित्र है, 'दक्षः' अर्थात् आराधना का विशेषज्ञ है (ऐसा नहीं कि चोरी करता हो तो दक्ष है। श्रीकृष्ण के अनुसार कर्म एक ही है, नियत कर्म - आराधना-चिन्तन, उसमें जो दक्ष है), जो पक्ष-विपक्ष से परे है, दुःखों से मुक्त है, सभी आरम्भों का त्यागी वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है। करने योग्य कोई क्रिया उसके द्वारा आरम्भ होने के लिए शेष नहीं रहती।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।१७।।

जो न कभी हर्षित होता है न द्वेष करता है, न शोक करता है न कामना ही करता है, जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्यागी है, जहाँ कोई शुभ विलग नहीं है, अशुभ शेष नहीं है, भक्ति की इस पराकाष्ठा से युक्त वह पुरुष मुझे प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।।१८।।

जो पुरुष शत्रु और मित्र में, मान तथा अपमान में सम है, जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ सर्वथा शान्त हैं, जो सर्दी-गर्मी, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में सम और आसक्तिरहित है तथा-

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।१९।।

जो निन्दा तथा स्तुति को समान समझनेवाला है, मननशीलता की चरम सीमा पर पहुँचकर जिसकी मनसहित इन्द्रियाँ शान्त हो चुकी हैं, जिस किसी प्रकार शरीर-निर्वाह होने में जो सदैव सन्तुष्ट है, जो अपने निवास-स्थान में ममता से रहित है, भक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ वह स्थिरबुद्धिवाला पुरुष मुझे प्रिय है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।२०।।

जो मेरे परायण हुए हार्दिक श्रद्धायुक्त पुरुष इस उपर्युक्त धर्ममय अमृत का भली प्रकार सेवन करते हैं, वे भक्त मुझे अतिशय प्रिय हैं।

निष्कर्ष–

गत अध्याय के अन्त में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा था कि, अर्जुन! तेरे सिवाय न कोई पाया है, न पा सकेगा – जैसा तूने देखा; किन्तु अनन्य भक्ति अथवा अनुराग से जो भजता है, वह इसी प्रकार मुझे देख सकता है, तत्त्व के साथ मुझे जान सकता है और मुझमें प्रवेश भी पा सकता है। अर्थात् परमात्मा ऐसी सत्ता है, जिसको पाया जाता है। अतः अर्जुन! भक्त बन।

अर्जुन ने इस अध्याय में प्रश्न किया कि, भगवन्! अनन्य भाव से जो आपका चिन्तन करते हैं और दूसरे वे जो अक्षर अव्यक्त की उपासना करते हैं, इन दोनों में उत्तम योगवेत्ता कौन है? योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि दोनों मुझे ही प्राप्त होते हैं क्योंकि मैं अव्यक्त स्वरूप हूँ; किन्तु जो इन्द्रियों को वश में रखते हुए मन को सब ओर से समेटकर अव्यक्त परमात्मा में आसक्त हैं, उनके पथ में क्लेश विशेष हैं। जब तक देह का अध्यास है, तब तक अव्यक्त स्वरूप की प्राप्ति दुःखपूर्ण है; क्योंकि अव्यक्त स्वरूप तो चित्त के निरोध और विलयकाल में मिलेगा। उसके पूर्व उसका शरीर ही बीच में बाधक बन जाता है। 'मैं हूँ, मैं हूँ', 'मुझे पाना है' – कहते–कहते अपने शरीर की ही ओर घूम जाता है। उसके लड़खड़ाने की अधिक सम्भावना है। अतः अर्जुन! तू सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें समर्पण कर अनन्य भक्ति से मेरा चिन्तन कर। जो मेरे परायण भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके मानव शरीरधारी मुझ सगुण योगी के रूप का ध्यान द्वारा तैलधारावत् निरन्तर चिन्तन करते हैं, उनका मैं शीघ्र ही संसार–सागर से उद्धार करनेवाला हो जाता हूँ। अतः भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है।

अर्जुन! मुझमें मन को लगा। मन न लगे तो भी लगाने का अभ्यास कर। जहाँ भी चित्त जाय पुनः घसीटकर उसका निरोध कर। यह भी करने में असमर्थ है तो तू कर्म कर। कर्म एक ही है, यज्ञार्थ कर्म। तू कार्यम् कर्म करता भर जा, दूसरा न कर। उतना ही कर, पार लगे चाहे न लगे। यदि यह भी करने में असमर्थ है, तो स्थितप्रज्ञ, आत्मवान्, तत्त्वज्ञ महापुरुष की शरण

होकर सम्पूर्ण कर्मफलों का त्याग कर। ऐसा त्याग करने से तू परमशान्ति को प्राप्त हो जायेगा।

तत्पश्चात् परमशान्ति को प्राप्त हुए भक्त के लक्षण बताते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा - जो सम्पूर्ण भूतों में द्वेषभाव से रहित है, जो करुणा से युक्त और दयालु है, ममता और अहंकार से रहित है, वह भक्त मुझे प्रिय है। जो ध्यान-योग में निरन्तर तत्पर और आत्मवान्, आत्मस्थित है, वह भक्त मुझे प्रिय है। जिससे न किसी को उद्वेग प्राप्त होता है और स्वयं भी जो किसी से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। जो शुद्ध है, दक्ष है, व्यथाओं से उपराम है, सर्वारम्भों को त्यागकर जिसने पार पा लिया है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। सम्पूर्ण कामनाओं का त्यागी और शुभाशुभों का पार पानेवाला भक्त मुझे प्रिय है। जो निन्दा और स्तुति में समान और मौन है, मनसहित जिसकी इन्द्रियाँ शान्त और मौन हैं, जो किसी भी प्रकार शरीर-निर्वाह में सन्तुष्ट और रहने के स्थान में ममता से रहित है, शरीर-रक्षा में भी जिसकी आसक्ति नहीं है, ऐसा स्थितप्रज्ञ भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।

इस प्रकार श्लोक ग्यारह से उन्नीस तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने शान्तिप्राप्त योगयुक्त भक्त की रहनी पर प्रकाश डाला, जो साधकों के लिए उपादेय है। अन्त में निर्णय देते हुए उन्होंने कहा - अर्जुन! जो मेरे परायण हुए अनन्य श्रद्धा से युक्त पुरुष इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृत को निष्कामभाव से भली प्रकार आचरण में ढालते हैं, वे भक्त मुझे अतिशय प्रिय हैं। अतः समर्पण के साथ इस कर्म में प्रवृत्त होना श्रेयतर है; क्योंकि उसके हानि-लाभ की जिम्मेदारी वह इष्ट सद्गुरु अपने ऊपर ले लेते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण ने स्वरूपस्थ महापुरुष के लक्षण बताये और उनकी शरण में जाने को कहा और अन्त में अपनी शरण में आने की प्रेरणा देकर उन महापुरुषों के समकक्ष अपने को घोषित किया। श्रीकृष्ण एक योगी, महात्मा थे।

इस अध्याय में भक्ति को श्रेष्ठ बताया गया, अतः इस अध्याय का नामकरण 'भक्तियोग' युक्तिसंगत है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'भक्तियोगो' नाम द्वादशोऽध्याय:।।१२।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'भक्तियोग' नामक बारहवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'भक्तियोगो' नाम द्वादशोऽध्याय:।।१२।।

।।हरि: ॐ तत् सत्।।